इकाई-1

काव्य-लक्षण

पाठ-संरचना

1·0	उद्देश्य
1·1	परिचय
1·2	भरत मुनि के विचार
1·3	भामह और दण्डी-कृत काव्य-लक्षण
1·4	आचार्य मम्मट-कृत काव्य-लक्षण
1·5	विश्वनाथ कविराज
1·6	कुन्तक-कृत काव्य-लक्षण
1·7	पण्डितराज जगन्नाथ-कृत काव्य-लक्षण
1·8	सारांश
1·9	अभ्यास के प्रश्न
1·10	पठनीय ग्रंथ

1·0 उद्देश्य :

काव्य-लक्षण अर्थात् काव्य की परिभाषा का सुचिन्तित और सुव्यवस्थित निर्माण संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनेक कृती विचारकों ने किया है। अलग-अलग काव्यदृष्टि और जीवन-दर्शन के कारण उनके काव्यलक्षणों में यत्किञ्चित् भिन्नता भी पायी जाती है, पर सभी विचारकों का उद्देश्य, समान रूप से, काव्य के उन विशेषाधायक तत्त्वों का निर्धारण करना रहा है, जो किसी कृति को अन्य सभी काव्येतर कृतियों से स्वतन्त्र पहचान दिलाते हैं।

काव्यकृति और काव्येतर कृतियों का भेद-निरूपण सरल कार्य नहीं है। न तो प्रतिपाद्य विषय के आधार पर उनके स्वरूप को एक-दूसरे से अलग किया जा सकता है और न अभिव्यक्ति की बाहरी पद्धति के आधार पर ही। जीवन और समाज की जिन स्थितियों का वर्णन समाजशास्त्र में किया जाता है, उन पर काव्य की रचना भी की जा सकती है। इसी तरह इतिहास, दर्शन और यहाँ तक कि विज्ञान का विषय भी काव्य का विषय बन सकता है। आचार्य भामह ने इस तथ्य को दृष्टि में रख कर कहा है कि–'ऐसा कोई शब्द नहीं, ऐसा कोई अर्थ नहीं, ऐसा कोई शास्त्र नहीं और ऐसी कोई कला नहीं, जो काव्य का अंग नहीं बने। इसलिए कवि का महान दायित्व होता है–

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारः महान कवे :।" (काव्यालंकार)

साधारणतः लोग छन्दबद्ध रचना को पद्य-काव्य मान लेते हैं, किन्तु छन्द कविता का व्यावर्तक या विशेषाधायक तत्त्व नहीं। ज्योतिष, आयुर्वेद के ग्रन्थ छन्द-बद्ध हैं, फिर भी उन्हें काव्य-ग्रन्थ नहीं माना जाता। दूसरी ओर गद्य काव्य और नाटक आदि दृश्य काव्य भी काव्य के रूप हैं। आधुनिक युग में कविता भी छन्द-मुक्त लिखी जाती है। स्पष्ट है कि न तो विषय के आधार पर और न छन्द आदि की अभिव्यक्ति-पद्धति पर काव्य-कृति की स्वतन्त्र पहचान बनती है। ऐसी स्थिति में भारतीय काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने बड़े मनोयोग से उन तत्त्वों को खोज कर काव्य-लक्षण में उनका समावेश किया है, जो काव्येतर कृतियों से काव्य-कृति का व्यावर्तन कर उसके विशिष्ट धर्म को स्पष्टतया रेखांकित करते हों। लक्षण का लक्षण यह है कि वह लक्ष्य के व्यावर्तक या विशेषाधायक धर्म का स्पष्ट निर्देश करता है। लक्षण स्पष्ट और सटीक है या नहीं, इसकी परीक्षा अन्वय और व्यतिरेक के निकष पर की जाती है। अन्वय का अर्थ है–लक्षण के होने पर लक्ष्य का अनिवार्यतः होना–'तत् सत्त्वे तत् सत्त्वम्' और व्यतिरेक का अर्थ है–लक्षण के घटित नहीं होने पर लक्ष्य का अभाव होना–'तदभावे तदभावः।' काव्य का वही लक्षण निर्दुष्ट माना जायगा जो जिन-जिन कृतियों में घटित हो उन्हें निर्विवाद रूप से काव्य-कृति माना जाता हो और जहाँ वह लक्षण घटित नहीं हो वैसी कृति को काव्येतर रचना माना जाता हो।

इस पाठ में हमारा उद्देश्य संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य-लक्षणों का विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन करना है। उल्लेख्य है कि प्राचीन काल से ही काव्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता रहा है। दृश्य काव्य के नाटक, प्रकरण, भाण आदि दश रूप; श्रव्य काव्य के गद्यकाव्य, पद्यकाव्य तथा चम्पू काव्य के ही विविध रूप माने गये हैं। सातवीं शताब्दी में आचार्य भामह ने सर्वप्रथम काव्य के पर्याय के रूप में साहित्य शब्द का प्रयोग किया, जब उन्होंने शब्द-अर्थ के सहित होने के भाव को काव्य का अर्थ माना–"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"। आधुनिक युग में कुछ विद्वानों ने काव्य और साहित्य का प्रयोग अलग-अलग अर्थों में कर दिया है। ऐसा करने में अंग्रेजी के दो शब्दों–पोएट्री और लिटरेचर–का प्रभाव जान पड़ता है। भारतीय परम्परा में काव्य और साहित्य पर्यायवाची शब्द हैं, कविता उसका एक रूप या भेद-मात्र है।

1·1 परिचय :

काव्य के व्यापक स्वरूप को किसी निश्चित परिभाषा में बाँधने के प्रयास बहुत कम ही किये गये हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र की लगभग दो हजार वर्षों की दीर्घ परम्परा में जो सुचिन्तित काव्य-लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की भी प्रायः यही स्थिति है। कारण स्पष्ट है। काव्य का स्वरूप स्थिर नहीं होकर गतिशील है। कवि की नव-नव उद्भावना करने वाली प्रतिभा काव्य के भाव, विचार और रूप के क्षेत्र में निरन्तर अभिनव प्रयोग करती रहती है। ध्यातव्य है कि काव्य के क्षेत्र में नव-नव उन्मेष, मूल का उच्छेद नहीं करता, उससे सम्पृक्त रह कर भी काव्य-धारा को नयी-नयी दिशाओं में विकसित करता रहता है। उस संवर्धनशील काव्य-रूप का निश्चित और स्थिर लक्षण निरूपित करना निश्चय ही कठिन कार्य है। इसका आशय यह नहीं समझा जाना चाहिए कि जो काव्य-लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं, वे काल-क्रम से विकसित होने वाले काव्य-रूप के सन्दर्भ में अनुपादेय हो जाएँगे। तथ्य यह है कि काव्य के बाह्य रूप और उसके भाव, विचार आदि आभ्यन्तर तत्त्वों में कुछ ऐसी समान बातें पायी जाती हैं, जो किसी कृति को काव्येतर कृतियों से पृथक् काव्य-कृति के रूप में स्वतन्त्र पहचान दिलाते हैं। काव्य-लक्षण में काव्य के उन्हीं व्यावर्तक और विशेषाधायक तत्त्वों का ऐसा गुम्फन किया जाता है कि वह सनातन काव्य-लक्षण बन जाय। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनेक कृती आचार्यों ने काव्य के जो लक्षण निरूपित किये हैं उनका स्थायी मूल्य है।

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों ने अपने-अपने कुछ विचार व्यक्त किये हैं। ध्यातव्य है कि उन सभी विचारों को काव्य-लक्षण नहीं माना जा सकता। काव्य-लक्षण में काव्य की उन समग्र विशेषताओं का

उल्लेख अपेक्षित होता है, जो काव्येतर कृतियों से अलग काव्य की स्वतंत्र पहचान बन सकें। लक्षण को अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। आशय यह कि जिन कृतियों को लोक-मानस काव्य मानता है, उनमें काव्य-लक्षण अवश्य घटित होना चाहिए, साथ ही किसी काव्येतर कृति में उसे घटित नहीं होना चाहिए। अँग्रेजी में लक्षण या परिभाषा और कुछ विचार के लिए अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। लक्षण या परिभाषा को डेफिनीसन कहते हैं तो विचार को ऑवजर्वेशन। यही कारण है कि अँग्रेजी साहित्य में दोनों की अवधारणाएँ अलग-अलग हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र में अन्वय-व्यतिरेक और अव्याप्ति-अतिव्याप्ति की स्पष्ट धारणा होने पर भी लक्षण से स्वतंत्र रूप में विचार के बोधक किसी सर्वमान्य शब्द का प्रयोग नहीं होने के कारण व्यवस्थित लक्षण और विचार में कहीं-कहीं भ्रान्ति हो गयी है। उदाहरणार्थ, आचार्य दण्डी और भामह के कथन को काव्य-सम्बन्धी अलग-अलग विचार तो निर्विवाद रूप से माना जा सकता है, पर उन्हें काव्य-लक्षण मानना विवाद का विषय है। 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' और 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में परस्पर भिन्न दो विचार हैं, जो इस प्रश्न को लेकर प्रवर्तित हुए हैं कि काव्य में शब्द अर्थात् भाषा का अधिक महत्त्व है या अर्थ (भाव विचार आदि) का, अथवा दोनों का समान महत्त्व है। दण्डी ने **शब्द-प्राधान्यवादी** दृष्टि का प्रवर्तन किया तो भामह ने **शब्दार्थतुल्यप्राधान्यवादी** दृष्टि का। इन आचार्यों का उद्देश्य काव्य-लक्षण प्रस्तुत करना नहीं था। उनके विचार को किञ्चित् परिष्कार के साथ काव्य-लक्षण का स्वरूप देने का प्रयास कुछ विचारकों ने किया है, जिसके औचित्य पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

रूचि-भेद से काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में जो विविध मत प्रस्तुत किये गये हैं, उनका प्रभूत प्रभाव काव्य-लक्षण-निरूपण पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। काव्य के सन्दर्भ में आत्मा शब्द का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में किया गया है। जैसे प्राणी की अस्मिता उसकी आत्मा पर ही निर्भर करती है, उसी प्रकार किसी उक्ति को काव्योक्ति के रूप में स्वतन्त्र पहचान दिलाने वाले तत्त्व को–उक्ति को जीवन्त और प्रभावोत्पादक बनाने वाले तत्त्व को–काव्य का प्राण-तत्त्व कहा गया है। उस काव्यात्म-तत्त्व के सम्बन्ध में दशाधिक विचार प्रवर्तित हुए, जिनमें से छह विचार काव्य-प्रस्थान के रूप में आज भी बहुचर्चित हैं। ये प्रस्थान हैं–रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य प्रस्थान जिन पर अलग-अलग पाठों में विचार किया जायगा। यहाँ इतना निर्देश ही पर्याप्त होगा कि इन प्रस्थानों के प्रवर्तकों और अनुयायियों ने काव्य-लक्षण में रस, अलंकार आदि में से किसी एक तत्त्व पर, अपनी रूचि के अनुसार विशेष बल दिया है।

काव्य-लक्षण :

काव्य-लक्षण के अर्थ में काव्य की परिभाषा शब्दावली का प्रयोग भी प्रचलित है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में गुणानुवाद, अतिशय, मनोरथ, मिथ्याध्यवसाय आदि जिन तैंतीस लक्षणों का विवेचन किया था वे काव्य में सौन्दर्य लाने या उसे बढ़ाने वाले गुण और अलंकार से मिलते-जुलते तत्त्व थे, जो धीरे-धीरे उन्हीं में विलीन हो गये। काव्य-लक्षण पर विचार करने के प्रसंग में उन नाट्य लक्षणों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

काव्य के स्वरूप को समझने, उसकी विशेषताओं को परखने की प्रवृत्ति आरम्भ से ही काव्य के पाठकों और काव्य-चिन्तकों में रही है। काव्यशास्त्र के असंख्य आचार्यों और अनेक कवियों ने काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं, जो काव्य के स्वरूप को समझने-परखने में उपयोगी हैं, पर काव्य-विषयक सभी विचार को काव्य-लक्षण या काव्य की सुचिन्तित परिभाषा नहीं माना जा सकता। अलग-अलग विचारकों ने अपनी-अपनी अभिरुचि और जीवन-दृष्टि के अनुरूप काव्य के सम्बन्ध में कुछ विचार व्यक्त किये हैं और सामान्य पाठक भी अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुसार उन विचारों में से कुछ को ग्राह्य और दूसरे को त्याज्य मानते हैं।

काव्य के व्यापक, गतिशील और वैविध्यपूर्ण स्वरूप को किसी निश्चित परिभाषा में बाँधना निश्चय ही बहुत कठिन कार्य है। कवि की नव-नव उन्मेषशालिनी प्रज्ञा काव्य के भाव, विचार और रूप के क्षेत्र में नित-नूतन प्रयोग करती रहती है। इससे काव्य-लक्षण के निर्माण का कार्य और भी कठिन हो जाता है। इसका आशय यह नहीं कि रूप की विविधता के बीच काव्य के सामान्य स्वरूप को पहचाना ही नहीं जा सके। तथ्य यह है कि रूप की विविधता में अन्तर्निहित कुछ ऐसे समान तत्त्व होते हैं, जो काव्येतर कृतियों से स्वतंत्र रूप में काव्य-कृतियों की पहचान कराते हैं। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों ने जो विचार व्यक्त किये हैं या जो काव्य-लक्षण निर्धारित किये हैं, उनमें समग्र काव्य-रूपों में अन्तर्निहित काव्य के सामान्य धर्म की खोज का महनीय प्रयास निहित है। यही कारण है कि काव्य-सम्बन्धी उन विचारों और काव्य-लक्षणों का स्थायी मूल्य है।

काव्य के अलग-अलग रूपों का—नाटक, महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक काव्य आदि का—विस्तृत विवेचन काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने किया है, पर काव्य-लक्षण के निरूपण में, सभी काव्य-रूपों में समान रूप से पाये जाने वाले उन तत्त्वों का निर्देश किया गया है, जो काव्य-कृति को काव्येतर सभी कृतियों से स्वतन्त्र अस्तित्त्व प्रदान करते हैं।

1·2 भरत मुनि के विचार :

भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भ आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से माना जाता है। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है, आचार्य भरत का मुख्य उद्देश्य नाट्य का विवेचन करना था, फिर भी उनके द्वारा विवेचित नाट्य-तत्त्वों में से अनेक तत्त्व परवर्ती काल में सामान्य रूप से काव्य-तत्त्व के रूप में स्वीकृत हो गये। रस, गुण, दोष, अलंकार आदि की अवधारणा का विकास भरतमुनि की मूल उद्भावना से ही हुआ है। आचार्य भरतमुनि ने काव्य-लक्षण का निर्माण तो नहीं किया किंतु जिन तत्त्वों से नाट्य में काव्यत्व आता है, उनका उल्लेख अवश्य किया है। उनके कथन को काव्य-लक्षण तो नहीं माना जा सकता, पर उससे काव्य के स्वरूप को—उसकी विशेषता को समझने में सहायता अवश्य मिलती है। आचार्य भरत का कथन है—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्

जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।

बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्

स भवति <u>शुभकाव्यं</u> नाटकप्रेक्षकाणाम्॥

अर्थात् सरस, सुबोध कोमल-कान्त पदावली की योजना से अभिनय में काव्यत्व आता है। स्पष्ट है कि भरतमुनि न तो काव्य का लक्षण दे रहे थे और न समग्रता से काव्य की भाषा पर विचार कर रहे थे। माधुर्य गुण में मृदु-ललित पदावली की योजना काम्य होती है तो ओज गुण में इसके विपरीत, उद्धत, कठोर वर्ण-विन्यास ही अनुकूल माना जाता है। इस कथन का महत्त्वपूर्ण अंश यह है कि सरस, सहज, सुबोध भाषा-विन्यास काव्य-रचना में काम्य होता है।

आचार्य भरत के बाद लगभग पाँच सौ वर्षों तक काव्य का कोई सुव्यवस्थित लक्षण सामने नहीं आया। कुछ विचारकों ने 'अग्निपुराण' में प्रस्तुत काव्य-लक्षण को भारतीय काव्यशास्त्र का प्रथम सुचिन्तित काव्य-लक्षण मान लिया था। इसके पीछे यह मान्यता थी कि 'अग्निपुराण' पुराण-काल की रचना होने के कारण बहुत प्राचीन काल की रचना है, पर आधुनिक शोध से यह प्रमाणित हो चुका है कि 'अग्निपुराण' पुराणकाल की रचना न होकर ग्यारहवीं शताब्दी के बाद की रचना है। अतः हम अग्निपुराण के काव्य-लक्षण पर यथा-स्थान विचार करेंगे।

1·3 दण्डी और भामह कृत काव्य-लक्षण :

ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी में काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में दो परस्पर भिन्न विचार प्रवर्तित हुए, जिन्हें कुछ विचारक दो स्वतंत्र काव्य-लक्षण मानते हैं। एक विचार आचार्य दण्डी का है और दूसरा आचार्य भामह का। आचार्य दण्डी शब्दप्राधान्यवादी आचार्य थे तो आचार्य भामह शब्दार्थतुल्यप्राधान्यवादी। काव्य में शब्द अर्थात् भाषा का अधिक महत्त्व होता है या उसमें व्यक्त अर्थ का अर्थात् भाव, विचार आदि का, इस प्रश्न को लेकर दो सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए। एक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन आचार्य दण्डी ने किया, जो शब्दप्राधान्यवादी सम्प्रदाय माना जाता है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों में दण्डी के साथ भारतीय साहित्यशास्त्र के एक लब्धप्रतिष्ठ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ का नाम भी जुड़ा हुआ है। इन आचार्यों की मूल मान्यता है कि काव्योक्ति में प्रधानता भाषा की होती है। भाषा का सौन्दर्य साधारण अर्थ में भी असाधारण प्रभाव उत्पन्न कर देता है। ऐसी उक्ति ही काव्योक्ति मानी जाती है। ध्यातव्य है कि शब्द और अर्थ–भाषा और उसमें व्यक्त होने वाले भाव, विचार आदि–परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़े होते हैं। न कोई भाषा अर्थहीन होती है और न भाषा के बिना भाव-विचार की काव्यात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है। काव्य भाषाबद्ध कलात्मक अभिव्यंजना है, जिसमें भाषा और भाव आदि अविभाज्य रूप से सम्पृक्त रहते हैं। अत: प्रश्न केवल उनके सापेक्ष महत्त्व का है। आचार्य दण्डी ने अर्थ यानी भाव, विचार आदि की तुलना में भाषा-सौन्दर्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहा है–

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।

अर्थात् अभीष्ट अर्थ से युक्त पदावली (उक्ति, वाक्य या भाषा) काव्य का शरीर है। आचार्य दण्डी के इस कथन में अभिप्रेत अर्थ और पदावली; दोनों का उल्लेख है, पर दोनों के सापेक्ष महत्त्व पर विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि आचार्य दण्डी पदावली (भाषा) को ही प्रधान मानते हैं, अभीष्ट अर्थ को गौण महत्त्व देते हैं। उनके उक्त कथन में 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना' यह वाक्यांश विशेषण है और 'पदावली' विशेष्य। व्याकरण का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि विशेषण पद गौण और विशेष्य पद प्रधान होता है। स्पष्ट है कि आचार्य दण्डी की दृष्टि में, काव्य में कवि के अभीष्ट अर्थ का भी अपना महत्त्व होता है, पर उससे अधिक महत्त्व अर्थ को व्यक्त करने वाली भाषा के सौन्दर्य का होता है।

कुछ विद्वानों ने आचार्य दण्डी के काव्य-विषयक उक्त विचार को काव्य का लक्षण मान लिया है, पर यह मान्यता निर्विवाद नहीं है। अन्वय-व्यतिरेक के निकष पर दण्डी की उक्ति को परखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वह उक्ति काव्य-लक्षण या काव्य-परिभाषा के रूप में निर्दुष्ट सिद्ध नहीं होती। इसमें अतिव्यप्ति और अव्याप्ति; दोनों दोष होंगे। काव्य-लक्षण के सन्दर्भ में अन्वय–तत् सत्वे तत् सत्वम्-का आशय है कि जहाँ-जहाँ यह लक्षण घटित हो वहाँ-वहाँ काव्यत्व अवश्य माना जाय, पर तथ्य यह है कि अभीष्ट अर्थ से युक्त पदावली का प्रयोग शास्त्र आदि में भी होता है। इस तरह दण्डी के कथन को काव्य-लक्षण मानने पर उसमें अतिव्याप्ति दोष होगा। व्यतिरेक–तदभावे तदभाव:–अर्थात् जहाँ वह लक्षण घटित नहीं हो वहाँ काव्यत्व का अभाव होना चाहिए; इस दृष्टि से विचार करने पर ऐसा रसघनिष्ठ काव्य भी काव्य की सीमा से बाहर हो जायगा, जिसमें भाव की प्रधानता होती है और उसे व्यक्त करने वाली भाषा का सौन्दर्य गौण हो जाता है–"भाव अनूठो चाहिए, भाषा काहू होय।" स्पष्ट है कि आचार्य दण्डी के विचार को काव्य का लक्षण मानने पर भाव-प्रधान काव्य के सन्दर्भ में अव्याप्ति दोष मानना होगा। अत: काव्य के सम्बन्ध में 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यच्छिन्ना पदावली'; इस उक्ति को काव्य का लक्षण नहीं मान कर काव्य के सम्बन्ध में एक विशिष्ट विचार ही माना जाना चाहिए।

आचार्य दण्डी की उक्ति में 'शरीरम्' शब्द का प्रयोग भी विचारणीय है। यदि दण्डी का उद्देश्य काव्य को परिभाषित करना होता तो वे काव्य के शरीर की जगह 'काव्यम्' शब्द का प्रयोग करते। शरीर शब्द से काव्य की

बाह्य संरचना का बोध होता है, उसके सम्पूर्ण स्वरूप का नहीं। उल्लेख्य है कि दण्डी के द्वारा प्रयुक्त काव्य के शरीर शब्द ने उसके आत्म-तत्त्व की खोज का मार्ग प्रशस्त किया। अनेक परवर्ती आचार्य अलग-अलग काव्य-दृष्टि लेकर काव्य की आत्मा की खोज में विभिन्न दिशाओं में निकले और उन्होंने विविध प्रस्थानों का निर्माण किया, जिनमें रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य; ये छह प्रस्थान आज भी बहुचर्चित हैं। इन विचारों के मूल प्रेरक के रूप में आचार्य दण्डी के विचार का महत्त्व समझा जा सकता है।

आचार्य भामह का काव्यसम्बन्धी विचार–काव्य के विषय में भामह का कथन उनकी शब्दार्थ-युगल-प्राधान्यवादी दृष्टि को व्यक्त करता है। उनका यह संक्षिप्त कथन–"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"–इतना व्यापक अर्थ रखता है कि उसे काव्य के लक्षण के रूप में स्वीकार करना कठिन है। शब्द और अर्थ का संयोग काव्य है, इस कथन को कुछ विद्वान काव्य की परिभाषा मानते हैं, पर इसकी सीमा में न केवल शास्त्र, इतिहास, पुराण आदि भाषा-बद्ध रचनाएँ आ जाती हैं, वरन् समग्र भाषिक व्यवहार भी इसके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। अतः इस उक्ति में अतिव्याप्ति है। भामह जैसे महान विचारक के कथन को सुचिन्तित काव्य-लक्षण भले ही नहीं माना जाय, पर उसे अविचारित सामान्य कथन मानना भी उचित नहीं होगा। इस कथन का एक उद्देश्य तो स्पष्ट है कि आचार्य भामह काव्य में भाषा और उसमें व्यक्त होने वाले भाव, विचार आदि अर्थ को समान महत्त्व देते थे। इस शब्दार्थ-तुल्य-प्राधान्यवादी दृष्टि के प्रवर्त्तक आचार्य भामह का विचार भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ।

शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कह कर आचार्य भामह ने काव्य के पर्याय के रूप में एक नया शब्द दिया–'साहित्य' (सहितस्य भावः) जो आज तक प्रचलित है। ऐसे मौलिक विचारक का महत्त्वपूर्ण विचार–"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्–गम्भीर विचार की अपेक्षा रखता है। सूत्र शैली के लेखक की अपेक्षा होती है कि पाठक उनके विचार को समग्रता में परख कर किसी सूत्र-वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के साथ उनके प्रसंगोचित विचार को मिला कर सम्पूर्ण अर्थ ग्रहण कर लेंगे। भामह अलंकारवादी आचार्य थे। वे नारी के सहज सुन्दर व्यक्तित्व को भी आभूषण के अभाव में प्रभावहीन मानते थे। यह उनकी अपनी अभिरुचि थी। उनके अलंकारवादी विचार के आलोक में उनकी काव्य सम्बन्धी उक्ति का अर्थ होगा–अलंकृत शब्द-अर्थ का संयोग काव्य है। इस अर्थ में भी भामह का कथन काव्य का सुचिन्तित लक्षण प्रस्तुत नहीं करता–केवल काव्य के प्रति एक नया विचार, एक नयी अभिवृत्ति प्रस्तुत करता है। अलंकृत शब्द-अर्थ के संयोग को काव्य का लक्षण मानने में यह आपत्ति हो सकती है कि यह काव्य का व्यावर्तक या विशेषाधायक धर्म नहीं है। अलंकृत शब्द-अर्थ का प्रयोग शास्त्र और लोक-व्यवहार की भाषा में भी किया जाता है। आचार्य भामह के कथन को काव्य-लक्षण सिद्ध करने का आग्रह छोड़ कर यदि उसे काव्य के सम्बन्ध में एक विचार ही माना जाय तो वह काव्य सम्बन्धी एक नवीन, अतएव महत्त्वपूर्ण विचार माना जा सकता है। भामह, दण्डी आदि आचार्य अलंकार का व्यापक अर्थ मानते थे। सौन्दर्य-विधायक समग्र काव्य-तत्त्व को वे अलंकार मानते थे। यही कारण है कि रसघनिष्ठ उक्ति भी उनकी दृष्टि में अलंकार का ही एक रूप-रसवर अलंकार ही है। दण्डी ने तो स्पष्ट शब्दों में काव्योक्ति में सौन्दर्य लाने वाले समग्र तत्त्वों को अलंकार कह दिया है–

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।

रीतिवादी आचार्य वामन ने आगे चल कर, अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय मान कर यह विचार व्यक्त किया कि काव्य अलंकार अर्थात् सौन्दर्य के कारण ही ग्राह्य होता है। ध्यातव्य है कि वामन काव्य की आत्मा—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राण-तत्त्व—रीति को मानते हैं; अलंकार या उक्ति के सौन्दर्य को नहीं।

इस विवेचन का सार यह है कि आदि आचार्य भरतमुनि से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी तक—दण्डी और भामह के काल तक—काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण नवीन विचार प्रवर्तित हुए, पर काव्य को किसी सुनिश्चित परिभाषा में बाँधने का प्रयास नहीं किया गया। भामह और दण्डी के काव्यविषयक विचार को

कुछ विद्वानों ने काव्य-लक्षण मान लिया है, किन्तु उन्हें काव्य के सम्बन्ध में दो स्वतन्त्र विचार या स्वतन्त्र काव्य-दृष्टियाँ मानना ही समीचीन जान पड़ता है।

1·4 आचार्य मम्मट-कृत काव्य-लक्षण :

आचार्य मम्मट रसवादी विचारधारा के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। रसवादी चिन्तन का प्रवर्तन नाट्याचार्य भरतमुनि ने किया तो उसे युक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य मम्मट को प्राप्त है। आचार्य मम्मट के सामने संस्कृत की अत्यन्त समृद्ध काव्य-परम्परा थी। उस कालजयी काव्य-परम्परा को दृष्टि में रख कर मम्मट ने जिस काव्य-लक्षण का निर्माण किया वह साधारण काव्य का लक्षण न होकर असाधारण महिमामण्डित कालजयी काव्य का लक्षण है, जो काव्य कवि को निर्मल स्थायी यश प्रदान करता है और सहृदय भावक को लोकोत्तर आनन्द-प्रदान करने के साथ ही कान्तासम्मित सरस एवं ग्राह्य उपदेश देकर सुन्दरतर जीवन और समाज के निर्माण में सहायक होता है। आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण के मूल्यांकन के समय इन दोनों बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इन दो तथ्यों को दृष्टि में रखने पर ही हम यह समझ सकेंगे कि आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण में उत्कृष्ट कोटि के काव्य की विशेषताओं पर ही विचार क्यों किया और काव्य के व्यावर्तक अनिवार्य तत्त्वों के साथ कुछ काम्य धर्मों का भी उल्लेख क्यों कर दिया।

आचार्य मम्मट के द्वारा उद्भावित काव्य-लक्षण संस्कृत साहित्य शास्त्र में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक मूल्यवान माना जाता है। यह भी तथ्य है कि सर्वाधिक कटु आलोचना इसी काव्य-लक्षण की हुई है। मम्मटकृत काव्य-लक्षण है।

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।"

अर्थात् अदोष शब्द और अर्थ जो गुणयुक्त हों, सामान्यतः अलंकृत हों, पर कहीं-कहीं अनलंकृत भी हों उन्हें काव्य कहते हैं। इस काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थौ'—शब्द और अर्थ—विशेष्य है, जिसके लिए तीन विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वे विशेषण हैं–अदोषौ, सगुणौ और अनलङ्कृती पुनः क्वापि। काव्य की जगह तत् (वह) शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रसंगानुरूप तत् (वह) से काव्य के अर्थ का बोध हो जाता है। इसलिए काव्य-लक्षण में काव्य शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है। उल्लेख्य है कि आचार्य मम्मट व्याकरण के उद्भट विद्वान थे। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। अतः उनके शब्द-प्रयोग की परीक्षा बहुत सावधानी से की जानी चाहिए।

काव्य-लक्षण में विशेष्य के रूप में 'शब्दार्थौ' (भाषा और उसमें व्यक्त होने वाले भाव, विचार आदि अर्थ) का उल्लेख कर आचार्य मम्मट ने शब्दार्थ-तुल्य-प्राधान्यवादी मान्यता का समर्थन किया है। हम देख चुके हैं कि आचार्य भामह ने काव्य में शब्द और अर्थ के सापेक्ष महत्त्व पर विचार करते हुए दोनों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण माना था। आचार्य मम्मट ने 'शब्दार्थौ काव्यम्' की धारणा व्यक्त कर उसी शब्दार्थयुगलप्राधान्यवादी विचार का समर्थन किया है।

काव्यत्व के लिए मम्मट की परिभाषा में शब्द-अर्थ का 'अदोष' होना आवश्यक माना गया है। ध्यातव्य है कि स्वयं मम्मट ने काव्य-दोषों का विस्तार से विवेचन किया है। काव्य के मुख्य अर्थ—रस का हनन करने वाले तत्त्व को काव्य-दोष मान कर उन्होंने शब्दगत अर्थगत और रसगत दोषों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आचार्य मम्मट सदोष शब्द-अर्थ का भी काव्य में अस्तित्व मानते थे। काव्य-लक्षण में 'अदोष' शब्द-अर्थ को काव्य कहने और काव्य में अनेक दोषों का अस्तित्व मानने में परस्पर विरोध की प्रतीति हो सकती है, पर यह विरोध तात्त्विक नहीं है। यह एक महान भाषाविद् के भाषा-प्रयोग के चमत्कार का उदाहरण है। मम्मट जैसे महान चिन्तक एक ही सन्दर्भ में विरोधी बातें कहें, यह सम्भव नहीं है। अतः उनके कथन के आशय

को यौक्तिक आधार पर स्पष्ट करने की आवश्यकता है। अदोष शब्द में 'अ' नञ् समास का अंश है। संस्कृत भाषा में नञ् समास का प्रयोग छह अलग-अलग अर्थों में किया जाता था। 'अ', या 'अन' के छह अर्थ थे—1. किसी के सदृश होना 2. अभाव 3. अन्यत्व या भिन्नता 4. अल्पता 5. अप्रशस्तता और 6. विरोध। उदाहरण के लिए **अ-ब्राह्मण** शब्द का अर्थ था—ब्राह्मण-**सदृश**, अज्ञान का अर्थ—ज्ञान का **अभाव,** अमानव का अर्थ—मानव से **भिन्न** अर्थात् मानवेतर, अनूदरी (कन्या) का अर्थ था **अल्प** या क्षीण कटि वाली, अनाचार या अन्याय का अर्थ बुरा आचार, या बुरा न्याय और असुर का अर्थ था सुर विरोधी। नञ् के छह अर्थों का उल्लेख व्याकरण में इन शब्दों में किया गया है–

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

आचार्य मम्मट ने काव्य-लक्षण में **अ**दोष शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है, इसे स्पष्ट किये बिना उनके काव्य-लक्षण का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इतना तो स्पष्ट ही है कि आचार्य मम्मट ने दोष के अभाव के अर्थ में 'अदोषौ' विशेषण का प्रयोग नहीं किया है, क्योंकि वैसा करने पर उनके द्वारा विवेचित काव्य-दोष न केवल व्यर्थ माना जाता, अपितु उनकी मूल मान्यता के विरूद्ध भी माना जाता। मम्मट जैसे महान विचारक के कथन में वदतोव्याघात या एकत्र कथन का अपरत्र स्वतः विरोध की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः अदोषौ का अर्थ अल्प-दोषौ ही माना जाना चाहिए। आचार्य मम्मट की इस मान्यता का आशय यह होगा कि शब्द-अर्थ सर्वथा दोषरहित हों तो वह काव्य की आदर्श स्थिति होगी, पर ऐसा होना सभी काव्य-कृतियों में सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में, यदि शब्द-अर्थ में कुछ दोषों के होने पर भी काव्य-कृति का सौन्दर्य समूल नष्ट नहीं होता और रस, गुण आदि सुन्दर तत्त्वों के कारण काव्य-रचना की गरिमा अक्षुण्ण रहती है तो उसे काव्य-कृति मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मम्मट की दृष्टि में काव्य में भाव-वैभव का सर्वाधिक महत्त्व है। उसके होने पर छोटे-छोटे दोषों की उपेक्षा की जा सकती है। दोष कम-से-कम हों, वे काव्य-सौन्दर्य को समूल नष्ट नहीं कर दें, यह काव्य में काम्य है। दोष का अभाव काव्य का आवश्यक लक्षण नहीं।

आचार्य मम्मट ने काव्य-लक्षण में एक और वांछनीय तत्त्व का उल्लेख किया है। उनकी मान्यता है कि काव्य के शब्द-अर्थ को सामान्यतः अलंकृत होना चाहिए, किन्तु कहीं-कहीं अनलंकृत शब्द-अर्थ भी काव्य होता है। स्पष्ट है कि मम्मट की दृष्टि में, शब्दार्थ का अलंकृत होना काव्य का व्यावर्तक लक्षण नहीं है, फिर भी काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करने वाला तत्त्व होने के कारण अलंकार काव्य में वांछनीय अवश्य है। उल्लेख्य है कि रसवादी आचार्य मम्मट अलंकार को शब्द-अर्थ के सौन्दर्य को बढ़ा कर काव्य की आत्मा रस का यदा-कदा उपकार करने वाला बाह्य धर्म ही मानते थे। अतः उनकी धारणा है कि यदि काव्य के शब्द-अर्थ में अलंकार हों और वे शब्द और अर्थ के—काव्य के शरीर के—सौन्दर्य को निखार कर रस का उपकार करते हों तो काव्य का प्रभाव अवश्य बढ़ेगा, पर अलंकार के अभाव में भी शब्द-अर्थ अपने भाव-वैभव से काव्य माने जाएँगे। इस प्रकार आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण में प्रयुक्त शब्दार्थौ का यह विशेषण–'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'–अदोषौ विशेषण की तरह ही, काव्य के व्यावर्तक या अनिवार्य तत्त्व का निर्देश नहीं कर उत्कृष्ट काव्य में अपेक्षित तत्त्वों का ही निर्देश करता है।

मम्मट के द्वारा प्रदत्त काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ का एक ही विशेषण–सगुणौ—अर्थात् उनका गुणयुक्त होना—काव्य का व्यावर्त्तक लक्षण पूर्णता के साथ प्रस्तुत कर देता है। ध्यातव्य है कि आचार्य मम्मट रसवादी चिन्तन के प्रबल प्रतिष्ठाता थे, फिर भी उन्होंने काव्य-लक्षण में रस शब्द का उल्लेख नहीं किया है। इसका आशय यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वे रस को काव्य का अनिवार्य और व्यावर्तक तत्त्व नहीं मानते थे। तथ्य तो यह है कि आचार्य मम्मट ने काव्य-लक्षण में 'रस' शब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी 'सगुणौ' विशेषण का प्रयोग कर,

बड़े लाघव से, रस को काव्य का व्यावर्तक तत्त्व घोषित कर दिया है। इसे शब्द-सिद्ध विचारक की एक महनीय उपलब्धि माना जाना चाहिए। काव्य के गुणों को—माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में से किसी एक गुण को—काव्य का व्यावर्त्तक लक्षण मान कर आचार्य मम्मट ने शब्द-अर्थ में गुण के आश्रयभूत रस की स्थिति को काव्यत्व के लिए अनिवार्य बताया है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए रस और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आचार्य मम्मट की मान्यता को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

आचार्य मम्मट गुण को रस का धर्म मानते थे। धर्म की स्थिति धर्मी के साथ ही होती है, उससे पृथक् नहीं। आशय यह है कि जिस उक्ति में रस होता है, उसी उक्ति में गुण की स्थिति होती है। रसहीन उक्ति में गुण के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्य मम्मट ने काव्य-गुण का सम्बन्ध चित्तवृत्तियों से मान कर विभिन्न रसों के साथ अलग-अलग गुण का नित्य सम्बन्ध माना है। उदाहरण के लिए, माधुर्य गुण चित्त को द्रवित करने वाला धर्म है, जो शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में रहता। इसके विपरीत, ओज गुण चित्त को प्रदीप्त करने वाला गुण है, जो रौद्र, वीर आदि दीप्त रसों का धर्म है। प्रसाद चित्त के विकास का गुण है जो किसी-न-किसी रूप में सभी रसों में रहता है। आचार्य मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रस के साथ गुण की अचल स्थिति रहती है और गुण सदा रस में उत्कर्ष लाते हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट काव्योक्ति में—काव्य के शब्द और अर्थ में—गुण और रस; दोनों का होना आवश्यक मानते थे।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब आचार्य मम्मट काव्य के शब्द और अर्थ में रस और गुण; दोनों का होना आवश्यक मानते थे तो उन्होंने काव्य-लक्षण में दोनों का उल्लेख नहीं कर केवल 'सगुणौ' विशेषण का उल्लेख क्यों किया? दूसरी बात यह है कि मम्मट जब रस को काव्य का मुख्य अर्थ मान कर उसे ही अंगी या प्रधान मानते थे तब रस की तुलना में गौण महत्त्व रखने वाले गुण के उल्लेख का क्या औचित्य है? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना कठिन नहीं है। काव्य-लक्षण में रस और गुण की जगह केवल गुण का उल्लेख लाघव के लिए किया गया है। शब्द-अर्थ में गुण हों इस कथन से शब्द-अर्थ सरस हों, इस अर्थ का बोध स्वत: हो जाता है, क्योंकि रसहीन शब्द-अर्थ में गुण की सत्ता हो ही नहीं सकती। रस शब्द का उल्लेख होने से गुण का बोध होना आवश्यक नहीं। अत: रस के साथ पुन: गुण का उल्लेख करना पड़ता। सरसौ और सगुणौ; इन दो विशेषणों का प्रयोग करने पर लक्षण में अनावश्यक विस्तार आता क्योंकि 'सगुणौ' इस एक विशेषण के प्रयोग से जितने अर्थ का बोध होता है उतने ही अर्थ का बोध सरसौ और सगुणौ; इन दो विशेषणों के प्रयोग से भी होता। गुण का उल्लेख गुणी का—धर्म का उल्लेख धर्मी का—बोध स्वत: करा देता है, पर धर्मी, गुणी या विशेष्य के कथन से किसी धर्म, गुण या विशेषण का बोध नहीं होता। उदाहरण के लिए पंडित, मूर्ख आदि विशेषण का प्रयोग करें तो आदमी (विशेष्य) का बोध अवश्य हो जायगा, पर गुणी या धर्मी आदमी के कथन से उसके किसी गुण या धर्म का बोध नहीं होता। आचार्य मम्मट ने रस को काव्य का अंगी या धर्मी मानने पर भी काव्य-लक्षण में उसके धर्म—गुण—का उल्लेख कर रस का अनायास बोध करा दिया। इस तरह एक ही विशेषण के प्रयोग से उन्होंने शब्द-अर्थ का सरस और सगुण होना; इन दो अर्थों का, लाघव से, बोध करा दिया। इसका आशय यह कदापि नहीं कि मम्मट गुण को रस से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे।

संक्षेपत: आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण इस प्रकार है:—ऐसे शब्द-अर्थ को—ऐसी उक्ति को—काव्य कहते हैं जो सरस और सहृदय भावक के चित्त को द्रवित, दीप्त तथा विकसित करने वाले गुण से युक्त हों; जिनमें

सामान्यत: दोष नहीं हों और अगर हों भी तो बहुत कम हों, जिससे उक्ति का सौन्दर्य नष्ट नहीं हो; जो साधारणत: अलंकृत हों, पर कहीं-कहीं अनलंकृत भी हो सकते हैं। सरस उक्ति से मम्मट का आशय ऐसी उक्ति से है, जो सहृदय भावक के चित्त को अखण्ड, लोकोत्तर, आनन्दात्मक अनुभूति में मग्न कर दे। वस्तुत: आनन्दात्मक होना और भावक के चित्त को विकसित, द्रवित या दीप्त करना ही, मम्मट के मतानुसार काव्य का व्यावर्तक लक्षण है। शब्द-अर्थ में दोष का अभाव या उसकी अल्पता तथा अलंकार का होना केवल काम्य है, काव्य का व्यावर्तक लक्षण नहीं।

आचार्य मम्मट के इस काव्य-लक्षण की कटु आलोचना करते हुए अलंकारवादी आचार्य जयदेव ने व्यंग्य के साथ कहा है कि जो यशस्वी आचार्य अलंकार-हीन शब्द-अर्थ को भी काव्य मानते हैं, वे शीतल आग की सत्ता क्यों नहीं मान लेते ?

"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥"

इस आलोचना (या कटूक्ति) में अलंकारवाद के प्रति जयदेव के विशेष रूझान का परिचय मिलता है। यह बात 'अनलङ्कृती और अनलं कृती' के शब्दालंकार के चमत्कार से भी प्रमाणित होती है। उल्लेख्य है कि कटु आलोचना, कुछ आचार्यों की असहमति के बावजूद मम्मट का काव्य-लक्षण आज भी सर्वाधिक लोकप्रिय है। अलंकार आदि रस-भिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों के विचार को छोड़ भी दें, तो रसवाद के प्रबल समर्थक और अनेक विचारों में मम्मट के अनुयायी पण्डित विश्वनाथ ने भी उनकी काव्य-परिभाषा से असहमत होकर एक संक्षिप्त स्वतन्त्र काव्य-लक्षण का निर्माण किया है। इन घात-प्रतिघातों के बीच भी आचार्य मम्मट के द्वारा प्रदत्त काव्य-लक्षण का महत्त्व अक्षुण्ण है। यह उस काव्यलक्षण की शक्ति का प्रमाण है।

1·5 पण्डित विश्वनाथकृत काव्य-लक्षण :

श्री विश्वनाथ कविराज ने काव्य-लक्षण में आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण में व्यक्त मूल धारणा को तो ग्रहण किया, पर उनके काव्य-लक्षण को अस्वीकार कर काव्य का एक संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत किया—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।" यह काव्य-लक्षण भी भारतीय साहित्यशास्त्र में बहुचर्चित और लोकप्रिय रहा है। शब्द-अर्थ की जगह पण्डित विश्वनाथ ने 'वाक्य' शब्द का प्रयोग किया है। वाक्य भाषा की वह मूल इकाई है जिसमें मन का पूर्ण बोध—भाव, विचार आदि—व्यक्त होता है। इस तरह विश्वनाथ ने काव्य में शब्द और अर्थ; दोनों की समान प्रधानता मान कर शब्दार्थयुगलप्राधान्यवादी दृष्टि का समर्थन किया है। आचार्य मम्मट ने शब्द-अर्थ के गुण का उल्लेख कर प्रकारान्तर से गुणी रस की काव्य में अनिवार्यता बतायी थी। विश्वनाथ ने काव्य-लक्षण में काव्य के प्राणभूत रस तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक समझा। गुण का काव्य-लक्षण में अलग से उल्लेख करना उन्होंने आवश्यक नहीं माना। शायद उनकी मान्यता रही हो कि उक्ति में रस रहे तो चित्त को विकसित, द्रवित या दीप्त करने वाला गुण उसमें अनायास ही आ जाता है। अत: काव्य-लक्षण में गुण का उल्लेख आवश्यक नहीं। मम्मट के काव्य-लक्षण में उत्कृष्ट कोटि के काव्य के लिए वांछनीय जिन दो तत्त्वों, का 'अदोषौ' और 'अनलङ्कृती पुन: क्वापि' विशेषणों के प्रयोग से उल्लेख किया गया था, उन्हें भी पण्डित विश्वनाथ ने काव्य-लक्षण में अनावश्यक मान कर केवल सरस वाक्य को काव्य का लक्षण माना है।

'रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं' इस संक्षिप्त काव्य-परिभाषा का पल्लवन अपेक्षित है। रस के स्वरूप का विवेचन सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया था। उनकी मान्यता थी कि रसरहित कोई भी नाट्य कर्म प्रवर्तित नहीं होता अर्थात् रस के अभाव में नाट्य-रचना व्यर्थ मानी जाती है। रस ही नाट्य का मुख्य

प्रयोजन होता है–"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" आचार्य भरत के द्वारा प्रवर्तित यह रसवादी विचार भारतीय काव्यशास्त्र में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। मम्मट, विश्वनाथ आदि रसवादी विचार के पोषक आचार्य हैं। रस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भरत ने एक संक्षिप्त, किन्तु अर्थगर्भ रस-सूत्र का निर्माण किया था। वह रससूत्र है–"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' के अनेक अर्थ निकाले जा सकते थे। इन शब्दों के अलग-अलग अर्थ मान कर अनेक आचार्यों ने रस-सूत्र की अलग-अलग व्याख्याएँ कीं जिनमें से चार व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं—1. भट्ट लोल्लटकृत उत्पत्तिवादी या आरोपवादी व्याख्या 2. भट्ट शंकुककृत अनुमितिवादी व्याख्या 3. भट्ट नायककृत भुक्तिवादी या भोगवादी व्याख्या और 4. अभिनवगुप्त द्वारा की गयी अभिव्यक्तिवादी व्याख्या। आरम्भ के दो आचार्यों ने रस को वस्तुनिष्ठ मान कर रस-सूत्र की व्याख्या की तो भट्ट नायक और अभिनवगुप्त ने रस को आत्मनिष्ठ मान कर उसकी व्याख्या की। उन व्याख्याकारों की व्याख्या में इतनी वैचारिक जटिलता आ गयी कि कविराज विश्वनाथ को स्वतन्त्र रूप में रस के स्वरूप को स्पष्ट करने की आवश्यकता जान पड़ी। पण्डित विश्वनाथ ने रस के स्वरूप और रसानुभूति के समय काव्य के भावक की योग्यता और मनोदशा को स्पष्ट करते हुए कहा है–

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द-चिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥"

अर्थात् दृश्य काव्य को देखने या श्रव्य काव्य को पढ़ने-सुनने के समय जब सहृदय भावक के हृदय में सत्त्व गुण का उद्रेक होता है और रजो गुण तथा तमो गुण दब जाते हैं तब उस सत्त्व-भावित चित्त से सहृदय काव्य के अखण्ड, स्वतः प्रकाश्य, आनन्दमय, चमत्कारपूर्ण, तन्मयता के कारण रस से भिन्न किसी अन्य ज्ञान से शून्य, ब्रह्मानन्द-सदृश रस का अपने आकार की तरह अपने से अभिन्न रूप में आस्वाद लेते हैं। इस कथन में रसानुभूति के लिए काव्य के भावक का सहृदय होना—साहित्यिक संवेदना से युक्त होना—आवश्यक माना गया है। सहृदय भावक के चित्त में भी सत्त्व गुण का उद्रेक होने पर ही रस की अनुभूति होती है। इस तरह भावक की योग्यता और रसानुभूति के लिए उपयुक्त मनःस्थिति का निर्देश कर पण्डित विश्वनाथ ने रस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसके सात विशेषणों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं–1. अखण्ड 2. स्वप्रकाश 3. आनन्दमय 4. चिन्मय (ज्ञान रूप) 5. वेद्यान्तरस्पर्शशून्य 6. ब्रह्मास्वाद-सहोदर और 7. लोकोत्तर चमत्कार-प्राण। रस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसकी एक-एक विशेषता को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

रस की अखण्डता–सहृदय भावक के हृदय पर काव्य के रस का एक अखण्ड या पूर्ण प्रभाव उत्पन्न होता है। ध्यातव्य है कि रस-परिपाक के लिए काव्य में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का क्रमशः और खण्डशः वर्णन किया जाता है, पर वे सभी मिल-जुल कर एक अखण्ड प्रभाव का सृजन करते हैं। क्रम के होने पर भी क्रम लक्षित नहीं होता—विभावादि के अलग-अलग प्रभाव का बोध एक पूर्ण बोध में विलीन हो जाता है। इसीलिए रस को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत रखा जाता है। काव्य के अर्थ-बोध की—रसबोध की—अखण्डता को संसार के सभी विचारक एकमत से स्वीकार करते हैं।

स्वप्रकाश–रस अनुभूति का विषय है। उक्ति में उसकी सत्ता अनुभव-सिद्ध होती है। उसकी सत्ता को प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

आनन्दमय–यह रस की सर्वप्रधान प्रकृति है। वस्तुतः सहृदय भावक के चित्त को आनन्दमग्न कर देना ही रस का स्वरूप है। काव्य में सुखात्मक भावों के वर्णन से तो आनन्द की प्राप्ति होती ही है, जीवन के भय, शोक आदि दुःखात्मक भावों की भी रस के रूप में परिणति होने पर वे आनन्दात्मक हो जाते हैं। रामचन्द्र गुण-चन्द्र आदि की यह मान्यता कि "सुख-दुःखात्मको रसः" काव्यशास्त्र के आचार्यों को मान्य नहीं हुई। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि काव्य में जब जीवन के शोक, भय आदि उद्वेजक भावों की करुण, भयानक आदि रसों के रूप में अभिव्यक्ति होती है तो उसे लोग रुचि लेकर पढ़ते हैं। रुचिकर होना सुन्दर होने का प्रमाण है और सुन्दर वस्तु का—सौन्दर्य का—प्रभाव अनिवार्यतः आनन्दात्मक ही होता है। काव्य के आनन्दात्मक प्रभाव को ही सामान्यतः रस कहा जाता है।

चिन्मय–रसानुभूति ज्ञान-रूप होने के कारण सविकल्प समाधि की तरह मानी जाती है, जिसमें विभाव आदि अवयवों का बोध भी अन्तर्निहित रहता है। सविकल्पक ज्ञान के कारण ही रस, रसाभास आदि के भेद का निर्णय सहृदय भावक कर लेते हैं।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्य–रसानुभूति के समय अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रह जाता, यहाँ तक कि रसमग्न भावक कुछ देर के लिए अपने देश-काल को भूल कर काव्य में वर्णित देश-काल में खो जाता है। इस तन्मयता की दशा में अन्य वस्तुओं का बोध विलीन हो जाता है।

ब्रह्मास्वादसहोदर–रस की आनन्दात्मक अनुभूति में वैसी ही सघनता, तन्मयता या तल्लीनता होती है, जैसी परमात्मा के साक्षात्कार से प्राप्त होने वाले आनन्द की अनुभूति में होती है। दोनों में थोड़ा अन्तर यह है कि जहाँ ब्रह्मानन्द में ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान मिल कर एकाकार हो जाते हैं, वहाँ काव्य-रस के आस्वाद में सविकल्पक ज्ञान बना रहता है। दूसरा अन्तर यह कि जहाँ ब्रह्मानन्द शास्वत होता है, वहाँ काव्यानन्द तभी तक रहता है, जब तक नाट्य में अथवा श्रव्य काव्य में विभावादि की उपस्थिति रहती है। अतः रस ब्रह्मास्वादसहोदर अर्थात् ब्रह्मास्वाद के समान होता है–उससे अभिन्न नहीं।

लोकोत्तर चमत्कार-प्राण–रस में लोकोत्तर चमत्कार रहता है। चमत्कार का अर्थ है–अद्भुत या असाधारण तत्त्व। विश्वनाथ ने अपरत्र कहा है–

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

उल्लेख्य है कि लोकोत्तर का अर्थ लोक से असम्बद्ध होना नहीं है—लोक से अधिक प्रभावोत्पादक या आकर्षक होना है। विश्वनाथ ने यह स्पष्ट किया है कि जिस उक्ति में रस के विभाव, अनुभाव आदि में से एक भी अवयव रहता है, उसमें रस की अभिव्यक्ति हो जाती है। शेष अवयव का बोध भावक को स्वतः हो जाता है। इसीलिए प्रकृति-चित्रण-परक काव्य में केवल आलम्बन विभाव का वर्णन होने पर भी रसात्मक बोध होता है। निष्कर्ष यह कि कविराज विश्वनाथ के मतानुसार जिस वाक्य से अर्थात् जिस उक्ति से सहृदय के हृदय में अखण्ड, लोकोत्तर, आनन्द उत्पन्न हो और उसका हृदय भावमग्न हो जाय उसे काव्योक्ति माना जाना चाहिए।

1·6 कुन्तककृत काव्य-लक्षण :

आचार्य कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिवादी विचार के आलोक में काव्य का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशलिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणि॥

अर्थात् शब्द और अर्थ जब कवि के वक्रतापूर्ण व्यापार से युक्त होते हैं तथा सहृदय के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त होते हैं और एक रचना में सुव्यवस्थित रूप में आते हैं तो उसे काव्य-रचना कहा जाता है। आशय यह कि सहृदय के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाले शब्द और अर्थ का वक्रतापूर्ण विन्यास और एक रचना में सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाना काव्य का लक्षण है। वक्रता का अर्थ है–लोकोत्तर चमत्कार जनकता अर्थात् लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति से पूर्ण होना। आह्लादकारी होने का आशय है आनन्दात्मक या सरस होना। आचार्य मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण के अनेक तत्त्व इस काव्य-लक्षण में अपनाये गये हैं। शब्द और अर्थ की तुल्य प्रधानता इस लक्षण में भी उल्लिखित है। आह्लाद या आनन्द की अवधारणा भी रसवादी आचार्य मम्मट और विश्वनाथ की धारणा से मिलती-जुलती ही है। वक्रोक्ति को काव्य का जीवन या प्राण-तत्त्व मानने के कारण कुन्तक ने काव्य-लक्षण में कवि के वक्रतापूर्ण व्यापार पर विशेष बल दिया है। उल्लेख्य है कि रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने भी रसानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने के क्रम में रस को 'लोकोत्तर-चमत्कार-प्राण' कह कर उक्ति के चमत्कार के महत्त्व को स्वीकार किया था। इस तत्त्व को कुन्तक ने अपने काव्य-लक्षण में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान कर दिया है।

1·7 पण्डितराज जगन्नाथकृत काव्य-लक्षण :

संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रायः अन्तिम समर्थ और मौलिक विचारक पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि रमणीय (रूप में) अर्थ का प्रतिपादन करने वाले **शब्द** (भाषा) को काव्य कहते हैं–"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।" यह संक्षिप्त काव्य-लक्षण व्याख्या की अपेक्षा रखता है। परिभाषा में प्रयुक्त 'शब्दः' पद विशेष्य है और 'रमणीयार्थप्रतिपादकः' पद उसका विशेषण। विशेष्य प्रधान होता है और विशेषण गौण। इस तरह यह स्पष्ट है कि जगन्नाथ की दृष्टि में काव्य में अर्थ अर्थात् भाव, विचार आदि की तुलना में भाषा की प्रधानता होती है। उनके विचार के अनुसार यह भाषा की कला ही है जो काव्य में वर्णित जीवन के साधारण अर्थ में भी असाधारण प्रभाव का सृजन कर देती है, जो जीवन के विकर्षक और उद्वेजक भाव को भी आकर्षक, मनोरम या रमणीय बना देती है। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्रति आचार्य दण्डी की शब्द प्राधान्यवादी मान्यता का समर्थन किया है। यहाँ यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि दण्डी और जगन्नाथ के बीच—लगभग एक हजार वर्ष के अन्तराल में—किसी आचार्य ने शब्दप्राधान्यवादी विचार को स्वीकार नहीं किया था, जिसमें भाषा के चमत्कार को भाव और विचार के सौन्दर्य से अधिक महत्त्व दिया जाता है; किन्तु समय के साथ—सामाजिक परिस्थितियों के साथ—लोक-रूचि भी बदलती रहती है। इसका एक रोचक उदाहरण, इस विचार के सन्दर्भ में, आधुनिक पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में मिलता है। शैलीविज्ञान में काव्य को भाषा अर्थात् भाषा की कला कह कर परिभाषित किया गया है। यह एक सुखद संयोग ही है, पर इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि जिस शब्दप्राधान्यवादी विचार की अधिकांश भारतीय विचारकों ने उपेक्षा कर दी थी, वह आज भी महत्त्व रखता है, भले ही शब्दार्थतुल्यप्राधान्यवाद इससे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाय।

शब्दप्राधान्यवाद के प्रति पण्डितराज जगन्नाथ की विशेष अभिवृत्ति का कारण उनके युग के सामाजिक-साहित्यिक परिवेश में भी देखा जा सकता है। ईसा की सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते संस्कृत भाषा का स्थान लोकभाषा लेने लगी थी। संस्कृत के मौलिक चिन्तन की परम्परा क्षीण पड़ने लगी थी। उस समृद्ध चिन्तन-परम्परा को विकसित करने की जगह हिन्दी के कवि-आचार्य उस चिन्तन का पद्यानुवाद कर ही संतुष्ट हो जाते थे। इसका आशय यह नहीं कि सभी आचार्यों ने केवल पिष्ट-पेषण ही किया। कुछ आचार्यों ने समय-समय पर कुछ नये विचार भी प्रस्तुत किये, पर वे इतने क्रमबद्ध और गम्भीर नहीं थे जो काव्यशास्त्र की समृद्ध परम्परा को विकसित कर पाते।

मुगल-साम्राज्य की स्थापना के बाद जिस दरबारी संस्कृति का विकास हुआ उसमें कवियों की प्रवृत्ति भाषा-चमत्कार से दरबार के श्रोताओं को चमत्कृत करने की ओर बढ़ी। वह हिन्दी का रीतिकाल था, जिसे कला-काल भी कहते हैं। उस युग की कला-प्रधान प्रवृत्ति के कारण यदि पण्डितराज जगन्नाथ जैसे मौलिक विचारक में भी काव्य की कलात्मक अभिव्यंजना के प्रति विशेष रूझान पैदा हुआ हो तो आश्चर्य की बात नहीं।

काव्य-लक्षण में प्रयुक्त 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक' विशेषण के आशय को स्पष्ट कर लेना अपेक्षित है। पण्डितराज के कथन का यह सीधा-सा अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए कि काव्य में भाषा से केवल रमणीय, मनोरम या सुन्दर अर्थ का ही प्रतिपादन किया जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण का निहितार्थ है कि काव्य की भाषा समग्र अर्थ को रमणीय बना कर व्यक्त करती है। वस्तुतः जीवन और जगत के सभी सुन्दर-असुन्दर, रमणीय-उद्वेजक, आकर्षक-विकर्षक भाव, विचार, परिस्थितियाँ आदि काव्य के विषय हैं। प्रेम, वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति जैसे जीवन के सुन्दर तथ्यों का वर्णन भी काव्य में होता है और घृणाजनक, उद्वेजक और विकर्षक भावों का भी। काव्य-भाषा या काव्य-व्यापार की यह महिमा है कि उससे जीवन के सुन्दर प्रसंग तो आनन्दात्मक अनुभूति उत्पन्न करते ही हैं, दुःखात्मक भाव भी रस के रूप में परिणत होकर आनन्दात्मक अनुभव जगाते हैं। इसी अर्थ में काव्य के सम्पूर्ण तथ्य को एकान्त सुन्दर सत्य माना जाता है। काव्य के विषय को सुखात्मक भावों या स्थितियों तक सीमित नहीं किया जा सकता। आचार्य भामह ने ठीक ही कहा था कि जीवन में जितनी भी बौद्धिक या कलात्मक उपलब्धियाँ हैं, भाषा में जितने शब्द हैं और जीवन के जितने तथ्य हैं, वे सभी काव्य के अंग बन सकते हैं, अतः काव्य की रचना करने वाले का महान दायित्व होता है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारः महान् कवेः॥" (काव्यालंकार)

मानव जीवन ही नहीं, पशु-पक्षी का जीवन और व्यवहार भी काव्य का विषय होता है। यहाँ तक कि जड़-प्रकृति का मनोरम और उग्र रूप भी काव्य का विषय हो सकता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्यत्व के लिए केवल इतना आवश्यक माना है कि काव्य-भाषा उन समग्र तथ्यों को अथवा उनमें से किसी विशेष तथ्य को रमणीय बना कर कलात्मक रूप से अभिव्यक्त करे।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस काव्यलक्षण में अर्थ की तुलना में भाषा-सौन्दर्य को अधिक महत्त्व देकर काव्य के कला-पक्ष के प्रति अतिशय आग्रह दिखाया है। यह सही है कि भाषा का सौन्दर्य कहीं-कहीं साधारण अर्थ को भी प्रभावोत्पादक बना देता है और भावक के मन को कुछ देर के लिए चमत्कृत भी कर देता है, पर उससे कोई रचना स्थायी मूल्य प्राप्त नहीं कर सकती। गम्भीर भाव और विचार का प्रभावोत्पादक चित्रण करने वाली काव्य-कृति ही कालजयी होती है। अर्थ को भाषा की तुलना में कम महत्त्व देना इस काव्य-लक्षण की सीमा है। यदि थोड़े-से सुधार के साथ इस रूप में काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया जाता कि रमणीयशब्दार्थौ काव्यम् अर्थात् रमणीय शब्दार्थ-मयी रचना को काव्य कहते हैं—तो वह अधिक सटीक काव्य-लक्षण माना जाता।

आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, कुन्तक और जगन्नाथ के काव्य-लक्षण में कुछ बातें समान हैं—काव्य-कृति में भाषा और अर्थ—जीवन और जगत के सभी सुन्दर-असुन्दर तथ्य—रमणीय, सुन्दर, और आकर्षक बन जाते हैं और सहृदय भावक के हृदय को भावविभोर, रसमग्न या आह्लादित कर देते हैं। इसका समान श्रेय मम्मट, विश्वनाथ और कुन्तक ने भाषा और भाव-वैभव, दोनों को दिया है, तो जगन्नाथ ने भाषा की कला को विशेष श्रेय दिया है। मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण अधिक लोकप्रिय हैं।

1·8 सारांश :

काव्य के स्वरूप को समझने-परखने के प्रयास काव्यशास्त्रीय चिन्तन में आरम्भ से ही होता रहा है, पर काय के सुनिश्चित लक्षण बहुत कम ही प्रस्तुत किये गये हैं। इसका कारण शायद यह है कि काव्य के व्यापक और नित-नूतन उद्भावित स्वरूप को किसी छोटी-सी परिभाषा में बाँध पाना दुष्कर कार्य है। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में व्यक्त सभी विचार को काव्य-लक्षण नहीं माना जा सकता, भले ही काव्य के स्वरूप को समझने में उनसे कुछ सहायता मिलती हो। काव्य-लक्षण को अन्वय-व्यतिरेक के निकष पर परखा जाना चाहिए। जिस रचना में काव्य का लक्षण घटित होता हो वह निर्विवाद रूप से काव्यकृति के रूप में स्वीकृत हो और जहाँ वह लक्षण घटित नहीं हो उसे काव्येतर रचना माना जाय। इस निकष पर परखने से आचार्य दण्डी और भामह के काव्य-सम्बन्धी विचार को काव्य-लक्षण नहीं मान कर काव्य के सम्बन्ध में दो अलग-अलग दृष्टियाँ ही माना जाना चाहिए। दण्डी ने तो काव्य शब्द का प्रयोग नहीं कर 'काव्यशरीर' शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य भामह ने शब्दार्थ के साहित्य को 'काव्य' कहा है। आचार्य दण्डी के मतानुसार 'अभीष्ट अर्थ से युक्त पदावली' काव्य का शरीर है। इस कथन में दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना' पद को 'पदावली' पद का विशेषण बना कर पदावली अर्थात् भाषा को प्रधान और उसमें व्यक्त कवि के अभिप्रेत अर्थ को गौण महत्त्व दिया है। यह काव्य के प्रति एक विशेष दृष्टि—शब्द-प्राधान्यवादी दृष्टि—है जिसका समर्थन संस्कृत साहित्यशास्त्र के अन्तिम सशक्त आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने ही किया है, अन्य आचार्यों ने नहीं। भामह ने काव्य में भाषा और अर्थ को समान महत्त्व देने वाली शब्दार्थतुल्यप्राधान्यवादी' दृष्टि का प्रवर्तन करते हुए कहा था–'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। यह दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों को मान्य हुई। इन दो आचार्यों के कथन को काव्य-विषयक दो स्वतन्त्र विचार ही माना जाना चाहिए, काव्य का सुव्यवस्थित लक्षण नहीं।

रसवादी आचार्य मम्मट ने काव्य का सर्वप्रथम सुचिन्तित लक्षण प्रस्तुत किया, जिसमें रस शब्द का उल्लेख किये बिना ही, रस के धर्म गुण का उल्लेख कर काव्य में रस का होना तथा भावक के चित्त को विकसित, द्रवित या दीप्त करने वाले किसी गुण का होना अनिवार्य माना है। मम्मट ने महान काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। इसलिए काव्य के अनिवार्य तत्त्व—रस और गुण के साथ काव्य को उत्कृष्ट बनाने वाले कुछ काम्य तत्त्वों—अदोषौ और अनलंकृती पुन: क्वापि; अर्थात् शब्दार्थ का दोषरहित होना अथवा उसमें दोष की अल्पता होना और सामान्यत: अलंकृत पर कहीं-कहीं अनलंकृत होना—का भी उल्लेख किया है। काम्य तत्त्व काव्य के अनिवार्य लक्षण नहीं। अत: विश्वनाथ ने काव्य-लक्षण में उन्हें अग्राह्य मान कर केवल 'रसात्मक वाक्य' को काव्य का लक्षण माना। उल्लेख्य है कि अग्निपुराणकार ने मम्मट के काव्य-लक्षण से मिलता-जुलता काव्य लक्षण—काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्' प्रस्तुत किया है। कुछ विद्वानों ने इस परिभाषा को मम्मट से पूर्व रचित परिभाषा मान लिया था, पर अब यह प्रमाणित हो चुका है कि अग्निपुराण पुराण-काल की रचना नहीं होकर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी की रचना है। अत: काव्य के प्रथम सुचिन्तित काव्य-लक्षण के निर्माण का श्रेय आचार्य मम्मट को ही है।

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने शब्द-अर्थ के वक्रतापूर्ण ऐसे विन्यास को काव्य माना है जो सहृदय के हृदय में आह्लाद उत्पन्न कर सके। काव्य का आह्लादकारी होना रसवादी चिन्तन का ही समर्थन करता है, पर शब्दार्थ का वक्रतापूर्ण–लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण–विन्यास उनकी अपनी मान्यता है। रसवादी सहज-सरल भाषा में भी काव्यत्व मानते हैं। मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि काव्य की भाषा अलंकृत भी हो सकती है और अनलंकृत भी।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य-लक्षण में शब्द या भाषा को काव्य में प्रधान और भाव, विचार आदि को गौण महत्त्व दिया है। यह उनकी काव्य-परिभाषा का दुर्बल पक्ष है, पर यह मान्यता कि काव्य में वर्णित होने पर जीवन और जगत के सभी सुन्दर-असुन्दर सत्य रमणीय बन जाते हैं, पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण का महत्त्वपूर्ण अंश है।

भारतीय काव्य-चिन्तन-परम्परा में आज भी आचार्य मम्मट और विश्वनाथ कविराज के काव्य-लक्षण अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

1·9 अभ्यास के प्रश्न :

1. आचार्य दण्डी और भामह के काव्य-सम्बन्धी विचार का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
2. आचार्य मम्मट के द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण का मूल्यांकन कीजिए।
3. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस काव्यलक्षण को पल्लवित करते हुए इसकी सम्यक् समीक्षा कीजिए।
4. आचार्य कुन्तक की काव्य-परिभाषा की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
5. 'रमणीयार्थप्रतिपादक : शब्द : काव्यम्' इस काव्य-लक्षण की शक्ति और सीमा का युक्तिपूर्ण उल्लेख कीजिए।
6. संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित काव्य-लक्षणों में से कौन-सा लक्षण आपकी दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और क्यों? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।

1·10 पठनीय ग्रंथ :

संस्कृत

नाट्यशास्त्र	–	भरतमुनि
काव्यालंकार	–	भामह
काव्यादर्श	–	दण्डी
ध्वन्यालोक	–	आनन्दवर्द्धन
काव्यप्रकाश	–	मम्मट
साहित्यदर्पण	–	विश्वनाथ कविराज
रसगंगाधर	–	पण्डितराज जगन्नाथ
वक्रोक्तिजीवित	–	कुन्तक

हिन्दी

काव्यशास्त्र	–	डॉ॰ भगीरथ मिश्र
भारतीय काव्य-चिन्तन	–	डॉ॰ शोभाकान्त मिश्र

॥ ॥ ॥